अध्याय : 7

उ प सं हा र

अध्याय : 7

उ प सं हा र

उपन्यास कथा-साहित्य की एक ऐसी विधा है, जिसमें जीवन का बहुआयामी चित्रण किया जाता है । मानव-जीवनकी जटिलतम स्थितियों, अनुभूतियों, भावनाओं तथा संवेदनाओं के व्यापक रूपमें प्रस्तुतीकरण के कारण यह विधा अपेक्षाकृत मानव-जीवन के अधिक सन्निकट पड़ती है । वर्तमान संत्रासपूर्ण एवं संघर्षमय जीवनकी दौड़ में निरन्तर आबद्ध मानव के जीवन-मूल्यों की विस्तृत व्याख्या करने में अपने यथार्थ-धर्मी रूपबन्ध के कारण इसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है । समय के अन्तराल के साथ-साथ जीवन की स्थितियां, जीवन के मूल्य, जीवन की उपलब्धियां एवं साथ ही जीवन की समस्याएँ भी निरन्तर परिवर्तमान होकर इस कथा-रूप को संगठित करती रही हैं । कविता, कहानी और नाटक मे भी जीवन के विविध पक्षों का सहज एवं स्वाभाविक ढंगसे आकलन होता है, किन्तु अपने नवीन पर नित्य-परिवर्तित शिल्पगत रूपबन्ध तथा यथार्थ के विशिष्ट आग्रहके कारण जीवन तथा उसकी समस्याओं को उनके सही परिपेक्ष्य में रखने की जो सहज सुविधा यहाँ प्राप्त है, अन्यत्र नहीं । अपने व्युत्पत्तिगत अर्थ के अनुसार भी यह विधा मानव-जीवन के अधिक सन्निकट पड़ती है ।

साहित्य की सभी प्रमुख विधाओं में उपन्यास सर्वाधिक नयी विधा है । आधुनिक कथा-साहित्यकी यह विधा इस नये वैज्ञानिक यंत्रयुग की देन है, जो बुद्धि और तर्क पर आधारित है । नित्य प्रति जीवन में परिवर्द्धमान जटिलता एवं संकुलता को रूपायित करने में यह विधा सर्वाधिक रूपसे सशक्त रही है ।

औद्योगिक - क्रांति से उद्भूत नवीन जीवन-व्यवस्था, शहरीकरण, वैयक्तिकरण, पूंजीवाद तथा उसके प्रभाव, भौतिक समृद्धि की अंधी दौड़ व्यावसायिक स्पर्द्धा, वस्तुवादी चेतना, युद्धों और आतंकों की विभीषिका ने मानव-जीवनको पहले के किसी भी युग की अपेक्षा अधिक जटिल एवं दुर्बोध बना दिया है । सिसकती हुई मानवता के इन्हीं स्पंदनों को प्रतिध्वनित करने में उपन्यास सब से आगे रहा है ।

यथार्थधर्मी औपन्यासिक गुणधर्म के कारण मानव-जीवन की समस्याओं से उपन्यास का सम्बन्ध प्रारंभ से ही रहा । दूसरे उपन्यास का जन्म जिन स्थितियों में हुआ उसमें भी यही अभिप्रेत था । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लगभग सभी भारतीय भाषाओं में यह काव्य-रूप अवतरित हो चुका था । पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी द्वारा प्रणीत 'भाग्यवती' हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना गया है, जो सन 1877 में लिखा गया । इन सौ वर्षों में भारतीय जीवन-पद्धति में, मूल्यों एवं जीवन रीति या शैली में द्रुतगामी परिवर्तन लक्षित हुए, अतएव उपन्यास में भी वस्तु एवं शिल्प के कई आयाम परिलक्षित किए जा सकते हैं ।

मानव-जीवन प्रकृत्या ही संघर्ष-शील रहा है, अत: उसके साथ समस्याओं व प्रश्नो का जुड़ना सहज है । फलत: जहाँ भी मानव-जीवन

का अस्तित्व होगा, समस्याएँ एक अपरिहार्य अंग के रूप में उससे संलग्नित होंगी । तथापि भिन्न जीवन-प्रणाली के कारण ग्रामीण एवं नगरीय परिवेश की समस्याओं में स्वरूप व परिमाणगत अंतर लक्षित हुए बिना नहीं रह सकता । मूलभूत समस्याओं के एक रहते हुए भी नगरीय जीवन में परिवेश जनित समस्याओं की बहुलता मिलेगी ।

प्रस्तुत अध्ययन में एक सीमित कालखंड [सन् 1960-1980] के नगरीय - परिवेश के कुछ चुने हुए उपन्यासों में आकलित मानवजीवनकी समस्याओं के नाना आयामों को विश्लेषित किया गया है । उपन्यास इस नये युग की नयी वास्तविकता को रूपायित करनेवाला एक सशक्त एवं लोकप्रिय काव्य-प्रकार है । छात्र-पुस्तकालयों को छोड़कर यदि सामान्य पब्लिक-पुस्तकालयों का सर्वेक्षण किया जाय तो यह तथ्य विदित होगा कि उपन्यास ही सर्वाधिक रूपसे पढ़ा जाता है । फलत: प्रकाशक भी उपन्यासों के प्रकाशन को अग्रिमता प्रदान करते हैं ।

परिणामत: उपन्यास-लेखन में एक बाढ़-सी आ गई है, क्योंकि जीवन को उसके संकुल एवं जटिलतम रूपमे पकड़नेवाला तथा युग की छबिको उसके सही परिप्रेक्ष्यों में रखनेवाला एक सशक्त साहित्यिक उपन्यास लिखना जितना कठिन एवं प्रतिभापेक्षी है, सामान्य सरलीकृत घासलेटी उपन्यास लिख देना उतना ही आसान है । यथार्थधर्मिता: वस्तु, चरित्र एवं शैली की सूक्ष्मता, अनेक स्तरीयता, नवीनता या मौलिकता एवं जीवन दर्शन आदि कुछ ऐसे आयाम हैं जिनके तहत हम ऐसे साहित्यिक उपन्यासों का परीक्षण कर सकते हैं । प्रस्तुत अध्ययन मे यथा सम्भव साहित्यिक एवं स्तरीय उपन्यासो का चयन किया गया है ।

उपन्यासकी लगभग तमाम परिभाषाओं से यह ध्वनित होता है कि वह एक यथार्थधर्मी विधा है, फलत: मानव-जीवनकी समस्याओं का आकलन उसका एक अनिवार्य अंग होगा । और यह समस्याएँ भी देशकाल सापेक्ष होती हैं । नारी-शिक्षा आधुनिक युग की एक ज्वलंत समस्या है । यह एक सुखद संयोग ही है कि हिन्दीका प्रथम उपन्यास भाग्यवती आधुनिक युग की इस सबसे बड़ी समस्याको लेकर लिखा गया है, परन्तु स्त्री-शिक्षा की इस समस्या के स्वरूप में तब से लेकर अब तक में अनेक नये परिमाण जुड़ चुके हैं । आज इस समस्या के साथ स्त्री की बौद्धिक सन्नध्यता एवं संपन्नता के कारण स्त्री-पुरूष "अहं" की टकराहट, सिसकते शैशव की मूक वेदनाएँ, नारीका आर्थिक एवं नैतिक शोषण खंडित दाम्पत्य जीवन जैसी अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याएँ जुड़ गई हैं ।

आधुनिक जीवन की सबसे त्रासद स्थिति यह है कि वह आस्था की धुरी खो चुका है । आंतरिक विश्वास का संबल न हो तो मनुष्य अपना चेहरा खो बेठता है । बिना चेहरा का यह मनुष्य एक भीड़ को जन्म देता है । भीड़, जो मानव-नियति एवं उसकी प्रगति की दिशा पर एक प्रश्न चिहन है ।

वस्तुवादी चेतना के कारण समाज के प्रत्येक वर्ग में चीज़ परस्ती बढ़ गई है । मानवीय सम्बन्धों के रेशे-रेशे बिखर गये हैं । खून के रिश्ते पानी के हो रहे हैं । मनुष्यका मूल्यांकन उपयोगितावाद के संदर्भ में आँका जाता है । मनुष्य नितान्त स्वार्थी व स्वकेन्द्रित हो गया है । सफलता के शोर्ट-कट में खोया आदमी मानवी - संज्ञा से भटककर एक छलावा- मात्र बनकर रह गया है ।

जीवन के लगभग तमाम क्षेत्रों में राजनीति का प्रवेश होता जा रहा है । राजनीति की इस फैलती काली अंधी छायाने देश के तमाम क्षेत्रोंको विषाक्त कर दिया है । प्रत्येक बात का विचार देश या राष्ट्रीय हित को लक्ष्य में रखकर नहीं, प्रत्युत दलगत राजनीतिको केन्द्र में रखकर होता है । फलत: समाज के सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व नैतिक अध:पतन की स्थिति दृष्टिगत हो रही है ।

औद्योगीकरण एवं नगरीकरण परस्पर सम्बन्धित एवं सहगामी प्रक्रियाएँ हैं । विज्ञान एवं औद्योगिकी का विकास इस प्रक्रिया को द्रुतगामी बनाता है । इस औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के फलस्वरूप पूंजीवाद का जन्म हुआ । बेकारी, कुटिर उद्योगोंका ह्रास, आवासकी समस्या, प्रदूषण की समस्या, स्वास्थ्य की समस्या, सामुदायिक एवं पारिवारिक भावनाका ह्रास, व्यक्तिवादी भावना का विकास, फलत: सामाजिक - पारिवारिक विघटन , अपराध एवं यौन - समस्याओं में वृद्धि, नैतिक मूल्यों की अवदशा जैसी अनेक समस्याएं इस औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के फलस्वरूप हमारे सामने उपस्थित हो रही हैं ।

वैसे तो प्रस्तुत अध्ययन की सीमा (सन् 1960-1980) निर्धारित है, तथापि प्रारंभ से लेकर सन् 1960 तक के उपन्यासों में निरूपित समस्याओं के विहंगावलोकन का एक उपक्रम भी रहा है, जिससे पिछली समस्याओंकी संगति बैठायी जा सके ।

प्रारंभिक उपन्यास-काल का सम्बन्ध नवजागरण-काल से होने के कारण उसमें प्राचीन एवं नवीन विचारों की टकराहट उपलब्ध होती है,

जहाँ एक तरफ सनातनी विचारधारा का प्राबल्य है, वहाँ दूसरी तरफ तत्कालीन सामाजिक कुरूढ़ियों पर प्रहार है । किन्तु उपन्यास का वास्तविक प्रारंभ तो प्रेमचन्द युग से माना जायेगा । प्रेमचन्द्र के उपन्यास कला की दृष्टि से परिपुष्ट, बहुआयामी, चरित्र-प्रधान, सोदेश्य तथा मानवतावादी दृष्टि से संपन्न मिलते हैं । उनकी दृष्टि प्रारंभ से ही समाजोन्मुखी रही है, फलत: सामाजिक समस्याओं की सूक्ष्म पकड़ जितनी प्रेमचन्द में है, अन्यत्र कम मिलती है । उनके उपन्यासों द्वारा हम तत्कालीन समाजकी नब्ज को भलीभाँति पकड़ सकते हैं । अपने जमाने की ऐसी कोई समस्या न होगी, जो प्रेमचन्द की सूक्ष्म दृष्टिसे अलिप्त रही हो।

सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यासों का सूत्रपात तो प्रेमचन्द-युग तक हो गया था, प्रेमचन्दोत्तर कालमें समाजवादी, मनोवैज्ञानिक, आंचलिक एवं राजनीतिक जैसी औपन्यासि धाराएं प्रस्फुरित हुईं । पाडेय बेचन शर्मा उग्र, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, रांगेय राघव, पंडित राहुल सांकृत्यायन, हिमांशु श्रीवास्तव, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, डॉ॰ देवराज प्रभृति औपन्यासिकों ने हमारे साम्प्रत समाज की सामाजिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं को उद्घाटित किया है ।

सन् 1960 और उसके बाद के उपन्यासों में "सारा आकाश", "अजय की डायरी", "अन्धेरे बन्द कमरे", "अपने अपने अजनबी", "पचपन खम्भे लाल दीवारें", "शहर में घूमता आईना", "अनदेखे अनजान पुल", "कथा सूर्य की नयी यात्रा", "रेखा", "वे दिन", "एक कटी हुई जिन्दगी, एक कटा हुआ कागज", "अठारह सूरज के पौधे" ,"बैसाखियों वाली इमारतें", "मछली मरी हुई", "रूकोगी नही राधिका", "एक पतिके नोट्स", "किस्सा नर्मदाबेन

गंगूबाई", "डाक बंगला", "कृष्णकली", "कड़ियाँ", "आपका बण्टी",
"टेराकोटा", "सूरजमुखी अन्धेरे के", "बेघर", "प्रश्न और मरीचिका",
"तमस", "मुरदाघर", "छाया मत छूना मन", "यह भी नहीं", "अपने
लोग", "नंगा शहर", "कोहरे", "कोरजा", "कुमारिकाएँ", "चित्तकोबरा",
"कुरू कुरू स्वाहा", "कोई तो", "दूसरी बार", "अन्तराल", "एक चूहे की
मौत", "अमृत और विष", "अपना मोर्चा", "टोपी शुक्ला", "तीसरा
आदमी" "गोबर गणेश", "काँच का आदमी", "टूटे हुए सूर्य बिम्ब",
प्रभृति उपन्यास नगरीय परिवेश को लेकर लिखे गये हैं । – "नदी फिर
बह चली", "उग्र तारा", "इमरतिया", "काला जल", "आधा गाँव",
"दिल एक सादा कागज", "राग दरबारी", "सबहिं नचावत राम गोसाईं",
"साँप और सीढ़ी", "काँचघर", "महाभोज" जैसे उपन्यासों में ग्रामीण एवं
नगरीय यों दुहरा परिवेश प्राप्त होता है ।

उक्त उपन्यासों में सर्वत्र एक मोहभंग की छबि पायी जाती है ।
संत्रास, घुटन, पीड़ा, गरीबी, बेकारी, भ्रष्टाचार, बौद्धिक नपुंसकता
आदिने जीवन की गंगाको प्रदूषित ही नहीं किया, उसकी संभावना को भी
प्राय: लुप्त प्राय-सा कर दिया है । वैयक्तिक एवं पारिवारिक विघटन,
आणविक परिवारों का अस्तित्व, वैयक्तिक स्वकेन्द्रीय, स्त्री-पुरुष के
"अहं"की टकराहट, खंडित दाम्पत्य, बच्चों की त्रिशंकु-सी स्थिति,
निम्नवर्गीय जीवन की नारकीयता, मध्यवर्गीय जीवन की प्रदर्शन-प्रियता
तथा उच्चवर्गीय जीवन का खोखलापन और व्यर्थता बोध प्रभृति कारणों से
मानव-जीवन छिन्न-भिन्न होकर अमानवीय एकलता की ओर अग्रसर हो
रहा है जिसके कारण मानवीय भावनाओं की संभावना के प्रति हम शंकाकूल
होते जा रहे हैं ।

यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि मानव-जीवन की समस्याएँ परस्पर जुड़ी हुई होती हैं । सामाजिक समस्याओं का उद्भव कभी आर्थिक समस्याओं से होता है और यह आर्थिक समस्याएँ फिर मनोवैज्ञानिक समस्याओंका उद्गम-स्रोत हो जाती हैं । वस्तुवादी चेतना, वैयक्तिताके बढ़ने प्रतिमान, नगरीकरण, आधुनिक सोचव चिंतन शिक्षाका प्रचार-प्रसार आदि कारणों से पारिवारिक विघटनकी प्रक्रिया प्रगति से आगे बढ़ रही है । इससे मनुष्य कहीं बाहयत: संपन्न व समृद्ध हुआ है, परंतु भीतर से भयावह एकलता एवं व्यर्थता बोध के कारण कुंठित भी हुआ है । नैतिक प्रतिमानों के प्रति अनास्था, वैयक्तिक चेतना के प्रसार-स्वरूप सामाजिक मर्यादाओं व मान्यताओं के भय से मुक्ति, प्रेम-विषयक विभावना में परिवर्तन प्रभृति कारणों से स्त्री-पुरूष सम्बन्धों में पर्याप्त बदलाव आया है, जिससे पति-पत्नी के बीच का स्थायीत्व भंग हो रहा है । मनुष्य अचिहि्नत अनिश्चितता की ओर अग्रसर हो रहा है । मध्यवर्ग उच्चवर्ग का और उच्चवर्ग पश्चिम का अनुसरण कर रहा है । इन परायीकृत अधकचरे मूल्यों के कारण समाज एवं व्यक्ति की अपनी इयता कम होती जा रही है । इन सामान्यीकृत एषणाओं से वर्गीय भावनाओं में वृद्धि हो रही है और व्यक्तित्व का नाश हो रहा है । जातिवाद एवं कौमी-वातावरण के कारण समग्र देशका परिवेश विषाक्त हो रहा है । यह बढ़ता हुआ आतंकवाद भविष्य के प्रति मनुष्य की अनास्था को बढ़ा रहा है जो देश व समाज के आंतरिक स्वास्थ्य के लिए एक बहुत बड़ा खतरा है ।

नगरीय - परिवेश के उपन्यासों में आर्थिक समस्याएँ निम्न मध्यवर्ग, मध्यवर्ग तथा उच्च मध्यवर्ग के लोगों को भिन्न-भिन्न तरीको से प्रभावित

करती है । निम्न एवं निम्न-मध्य वर्ग में गरीबी की समस्या उन्हें अपराधी व विकृत बना देती हैं । जब कि मध्यवर्गीय एवं उच्च मध्यवर्गीय व्यक्ति आर्थिक अभावों से कुंठाग्रस्त या दिशाभ्रष्ट हो जाते हैं । अपराध, बाल-अपराध, वेश्यावृत्ति तथा मादक द्रव्यों के सेवन आदि की समस्याएं भी आर्थिक - अभावों से निष्पन्न होती हैं ।

हिन्दी उपन्यासों का विकास-क्रम घटना से चरित्र, चरित्र से व्यक्ति और व्यक्ति से मन की तरफ होता गया है । ठीक यही वह बिन्दु है, जहाँ से मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात होता है । इन उपन्यासों में मनकी अछूती अनचीन्ही गहराईयों और जटिलताओं की परतों को उधेड़ने का एक कलात्मक उपक्रम रहता है । यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मनुष्य के बहुत से व्यवहारों का उत्स उसका अचेतन मन होता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इसी अचेतन के कार्य-व्यापारों को लक्षित करने का यत्न रहता है । नगरीय परिवेशकी जटिलता एवं नगरीय-जीवन की अनेक स्तरीयता के कारण वहाँ मनोवैज्ञानिक गुत्थियों का बाहुल्य पाया जाता है, प्रायः इसीलिए मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का परिवेश अधिकांशतः नगरीय पाया जाता है । "अन्धेरे बन्द कमरे", "रूकोगी नहीं राधिका !", "चित्त कोबरा", "सूरज मुखी अन्धेरे के", "मछली मरी हुई", "रेखा", "आपका बण्टी", "वे दिन", "एक कटी हुई जिन्दगी" : एक कटा हुआ कागज़", "टेराकोटा", "लौटती लहरों की बांसुरी", "अनदेखे अनजान पुल", "अपने-अपने अजनबी", "अठारह सूरज के पौधे", "तीसरा आदमी", "यात्राएँ" प्रभृति मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में लघुता-ग्रंथि, श्रेष्ठता-ग्रंथि, इलेक्ट्रावइडीपस-ग्रंथि जैसी

मनोवैज्ञानिक ग्रंथियाँ एवं काम-जनित विकृतियाँ व कुण्ठाएँ उपलब्ध होती हैं । औद्योगीकरण, नगरीकरण, यंत्रीकरण, आधुनिकता, वस्तुवादी - अस्तित्ववादी चिंतन, वैयक्तिक प्रतिमान प्रभृति कारणों से नगरीय जीवन में अजनबीपन का बोध भी गहराता जा रहा है ।

"कथा - सूर्य की नयी यात्रा", "सबहिं नचावत राम गोसाईं", दिल एक सादा कागज", "कुरू कुरू स्वाहा", "राग दरबारी", "टोपी शुक्ला" प्रभृति उपन्यासों में साम्प्रतिक राजनीतिक, साहित्यिक एवं शैक्षणिक विषमताओं और विसंगतियों को उकेरा गया है ।

यद्यपि आलोच्यकाल के नगरीय परिवेश के उपन्यासों में हमारे नगरीय जीवनकी अनेकानेक समस्याओं को आकलित किया गया है, तथापि हमारे सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक क्षेत्रकी कतिपय समस्याएँ अभी पूर्णतया उद्घाटित नहीं हुई हैं । आंतर ज्ञातीय, आंतर प्रांतीय, आंतर सांस्कृतिक विवाहों की चर्चा अभी कम हुई है । इस सम्बन्ध में समाज के महाधीश एवं पुलिसकी सांठ-गांठ, प्रेमियों की हत्या आदि समस्याएँ भी अभी पूर्णतया आकलित नहीं हुई हैं । धर्म एवं राजनीति का गठ-बन्धन, कन्या-विक्रय, दहेज न लाती कम लाती लड़कियों पर होनेवाले पाशविक अत्याचार, आरक्षण की समस्या, आरक्षण के बावजूद उसके लाभों से वंचित रखने हेतु प्रयोजित हथकण्डे, ड्रग-स्मगलिंग, स्कूलों-कॉलिजों में नियुक्तियों के लिए डोनेशन के नाम पर दी जानेवाली बड़ी-बड़ी रकमें जैसे विषयों पर अभी कम लिखा गया है । आशा है आगामी वर्षों के औपन्यासिक लेखन में इन क्षतियों की पूर्ति होगी क्योंकि समस्याओं में भागा-बाकी की संभावना कम गुणा-जोड़ की संभावना ही अधिक दिखती है ।

मेरे शोध-विषय की अपनी सीमाएँ हैं । यदि ज्ञान-चिंतन तथा बौद्धिक उहापाह को अग्रसर होने में यह प्रयास अपना किंचित् मात्र भी योग दे सका तो मैं अपने इस प्रयास व परिश्रम को सार्थक समझूँगा । उपन्यास के विभिन्न आयामों व पक्षों पर काफी शोधकार्य हुआ है, हो रहा है । मैं जिस दिशा में प्रयत्नशील हूँ उस दिशामें अभी विभिन्न काल-खंडों के उपन्यासों को लेकर तथा सीमितकाल-खंडों के ग्रामभि-त्तीय उपन्यासों को लेकर कार्य हो सकता है ।

अन्तत: निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि आलोच्य कालके नगरीय परिवेशके उपन्यासों में मानव-जीवन से सम्बन्धित सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, साहित्यिक, शैक्षणिक प्रभृति अनेकविध समस्याओंका समुचित आकलन हुआ है ।

. . . . .